

## शिक्षा में निजी व सार्वजनिक : सीमाओं का पुनर्अंकन

एन. वेणु

### लेखक परिचय :

मद्रास विश्वविद्यालय से इंजीनियरिंग में उपाधि, आईआईएम कलकत्ता से प्रबंधन में कोर्स।

बैंगलूरु से करीब 40 किलोमीटर दूर स्थित शैक्षिक नवाचार के केन्द्र 'सेन्टर फॉर लर्निंग' के संस्थापक सदस्य।

### सम्पर्क :

545, बानगिरी नगर, बनाशकारी 3rd स्टेज, बैंगलूरु - 560085

अपनी औपचारिक शिक्षा के पहले चार साल मैंने केरल के एक छोटे कस्बे की सरकारी प्राथमिक शाला में बिताए और स्थानीय भाषा में पढ़ाई की। हमारी कक्षा में तकरीबन चालीस शिक्षार्थी थे और व्यवस्थाएं न्यूनतम पर पर्याप्त थीं, शिक्षक प्रतिबद्ध थे और सबसे बड़ी बात, उपस्थित रहते थे। पर अपनी माध्यमिक व उच्च स्कूली शिक्षा मैंने कस्बे की एक अधिक बड़ी, सरकारी अनुदान प्राप्त निजी शाला में पूरी की। यहां यह उल्लेख कर देना चाहिए कि उस वक्त कस्बे में कोई भी पूरी तरह निजी (सरकारी अनुदान न लेने वाला) स्कूल नहीं था। मेरे चचेरे भाई जो आज केरल के एक हाई स्कूल में शिक्षक हैं, (ग्रामीण इलाके में - अगर केरल यह दावा कर सके कि वहां दरअसल ग्रामीण इलाके हैं), मुझे विश्वास दिलाते हैं कि राजकीय शालाएं अब और असरदार हैं; शिक्षकों के प्रशिक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाता है और कक्षाएं भी संख्या के रूप से छोटी हैं। साथ ही वहां, कई महकमों में बेचैनी पैदा करता, निजी अंग्रेजी स्कूलों का फलता-फूलता महकमा भी है।

मैं अब साठ लाख से भी अधिक आबादी वाले शहर (बैंगलूरु) में रहता हूं और एक निजी शैक्षिक उपक्रम का हिस्सा हूं जो लाभ कमाने के लिए नहीं चलाया जाता परन्तु राज्य से वित्तीय और अन्य अर्थों में, पूरी तरह से स्वतंत्र है। मेरे आसपास सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के प्रति अविश्वास के संकेत हैं और मैं शिक्षा की गुणवत्ता और कुप्रबंधन की जोरदार शिकायतें भी सुनता हूं। सरकार एक निजी स्कूल खोलना, तब तक लगभग असम्भव ही बना देती, जब तक आप सामर्थ्यवान, सम्पर्कवान या बिल्कुल बेईमान न हों। देश के कई हिस्सों में सरकार पर शिक्षा के क्षेत्र से हटने या निजी उपक्रमों के लिए महज एक दानदाता संस्था के रूप में काम करने का दबाव डाला जा रहा है। कई सरकारें या तो अपनी विचारधारा के कारण या केवल थकान के कारण यही करने के विरुद्ध भी नहीं लगतीं। पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप (सार्वजनिक-निजी साझेदारी या पी.पी.पी.) की चर्चाओं में एक तरह का आग्रह दिखने लगा है। पर ठीक इसके साथ केन्द्र व राज्य सरकारें करदाताओं के हजारों करोड़ रुपए शिक्षा में बहा रही हैं।

मैं शुरुआत में ही परस्पर इन विरोधी संदर्भों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूं ताकि खुद को और पाठकों को सामान्यीकरण के खतरों से चेता दूं - खासकर उस देश में जो भारत के आकार और पेचीदगियों वाला हो। देश के किसी न किसी कोने से आप लगभग हर प्रकार के दावों के लिए प्रमाण खोज सकते हैं। फिर भी हमें अपनी शिक्षा व्यवस्थाओं की स्थिति की समीक्षा करने की और एक सार्वजनिक बहस को जिन्दा रखने की सम्भावना तलाशने की दरकार है। यह बहस समय के साथ अधिकाधिक ध्रुवीय बनती जा रही है और हिस्सेदारों के वैचारिक व सांस्कृतिक सरोकारों व पूर्वाग्रहों के चलते कठिन होती जा रही है। मैं इस विश्वास के भरोसे बढ़ रहा हूं कि इस बहस, चाहे वह कर्कश ही क्यों न हो, का विकल्प और भी भयावह होगा।

## शिक्षा - संग्राम रेखाएं

शिक्षा (तथा इसकी निकट की रिश्तेदार स्वास्थ्य सेवा) के सार्वजनिक प्रावधान व नियंत्रण का पक्ष सब बखूबी जानते हैं। शिक्षा के व्यापक बाहरी सामाजिक प्रभाव होते हैं, अर्थात् उसके लाभ (और असफलताएं) व्यक्ति के परे जाती हैं। एक शिक्षित आबादी आर्थिक रूप से अधिक उत्पादक होती है और अधिकांश अन्य सामाजिक सूचकांकों में भी बेहतर प्रदर्शन करती है। इसके विपरीत अपने नागरिकों को शिक्षित करने में असफल रहने से, समता व कल्याण पर दुष्प्रभाव पड़ता है। परंपरागत वित्त सिद्धान्त हमें यह बताता है कि अगर शिक्षा को पूरी तरह बाजार के हवाले कर दिया जाए तो निजी क्षेत्र, जो मुख्यतः लाभ की मंशा से निर्देशित होता है, शिक्षा में 'अल्प उत्पादक' सिद्ध होगा। इन बोधों को मिला कर देखने के कारण, दुनिया भर में शिक्षा का व्यापक सार्वजनिक प्रावधान किया गया है, खासकर स्कूली शिक्षा का और साथ ही निजी शैक्षणिक गतिविधियों को सख्त नियमों से बांधा भी गया है।

भारत की औपचारिक शिक्षा की जड़ें इसके औपनिवेशिक इतिहास में हैं। शिक्षा में निजी व सार्वजनिक पहलों का, मुख्यतः शहरी होते हुए भी, साथ-साथ अस्तित्व रहा है। राजनीतिक आजादी पाने और शिक्षा के महत्त्व को पहचानने के बाद इस क्षेत्र में भारी सार्वजनिक निवेश किया गया। परन्तु इसके अनुभव प्रत्येक राज्य के इतिहास के अनुरूप, भिन्न रहे हैं। पूर्णतः निजी और राजकीय पहलों के साथ ज्यादातर राज्यों में बड़ी संख्या में "सरकारी अनुदान प्राप्त निजी स्कूल" भी हैं, जहां स्कूल का स्वामित्व और प्रबंधन निजी परमार्थ संस्थाओं के हाथ है पर उनका अधिकांश खर्च सरकार वहन करती है। जाहिर है कि सार्वजनिक निजी साझेदारियों का भारत में लम्बा इतिहास रहा है।

आज यह कहना काफी आम है, कम से कम भारतीय शहरी मध्यम वर्ग में, कि सरकारी शिक्षा व्यवस्था इस कदर बदहाल हो चुकी है कि उसे दुरुस्त किया ही नहीं जा सकता। इसकी असफलताएं और खामियां अनेक हैं। अव्वल तो यह व्यवस्था शिक्षा उपलब्ध ही नहीं करवा पा रही। भारी वित्तीय व मानवीय संसाधन झोंकने के बावजूद लाखों बच्चों को किसी भी तरह की शिक्षा नहीं मिल पाती है। और जो सौभाग्य से स्कूल में हैं, उनके नतीजे उठाई गई जहमत के लायक नहीं हैं। खराब गुणवत्ता का रोग समूची व्यवस्था में फैला है। स्कूली प्रबंधन में गम्भीर संस्थागत खामियां हैं। किसी भी तरह की जवाबदेही यहां अक्सर नामौजूद होती है।

इस संदर्भ में विकासशील और विकसित दोनों ही देशों में सरकारी शिक्षा व्यवस्थाओं की महसूस की जाने वाली असफलताओं

के कारण इन नीतियों के पीछे जो मान्यताएं हैं उन पर हालिया सालों में तमाम सवाल उठाए जाने लगे हैं। साथ ही इस विश्वास पर भी सवाल उठ रहे हैं कि निजी क्षेत्र गरीब और जरूरतमंद लोगों को शिक्षा नहीं मुहैया करवा सकता और गरीब तथा जरूरत मंद शिक्षा की मांग करने वाले 'उपभोक्ता' नहीं हैं। सुधार के पैरोकार इस नजरिए से कई तरह की मांगें कर रहे हैं जिनमें शिक्षा के सम्पूर्ण निजीकरण और सरकार के पीछे हटने से लेकर विभिन्न प्रकार की बाजार के प्रति दोस्ताना नीतियां अपनाने तथा पीपीपी भी शामिल हैं।

इस रुझान के विरुद्ध जो कड़ी प्रतिक्रिया है वह उन लोगों द्वारा की जा रही है जो किसी भी तरह से समतामूलक शिक्षा उपलब्ध करवाने की बाजार की क्षमता पर भरोसा नहीं करते। इस विचारधारा वाले राजकीय व्यवस्था में सुधार और उसके सुदृढीकरण की पैरवी करते हैं, उसे कमजोर करने की नहीं। उनका मानना है कि शिक्षा के निजीकरण की मांग दरअसल उन नव-उदारवादी राजनीतिक व सामाजिक नीतियों का नतीजा है, जिसने पिछले कुछ दशकों में तमाम विकासशील देशों को तबाह कर दिया है। उनकी नजर में सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार ही संदिग्ध है और वे इसे लोभी उद्यमियों द्वारा सार्वजनिक संसाधनों पर काबिज होने का बहाना भर मानते हैं।

## चलें 'रीवाइन्ड' करें

जैसा अक्सर होता है, इस तरह का वैचारिक संघर्ष इस तथ्य से और पेचीदा बनता है कि दोनों ही पक्ष इस्तेमाल किए जा रहे पारिभाषिक शब्दों का अर्थ एक-सा नहीं समझते। प्रत्येक पक्ष अपने विरोधी के तर्कों व प्रस्तावों का सबसे अनुदार निहितार्थ निकालता है और पलट कर विध्वंसक (कम से कम खुद उनकी नजर में) वितर्क रखता है। पीपीपी का विचार इसका उदाहरण है। मुझे लगता है कि पीपीपी कोई ऐसी अखण्डित धारणा नहीं है जिसका अर्थ स्वतः स्पष्ट हो। यह जरूरी है कि हम उसके टुकड़े-टुकड़े कर उसके विभिन्न हिस्सों को फैला लें। सम्भव है कि पीपीपी के कई ऐसे हिस्से भी हों जो विभिन्न वैचारिक मान्यताओं के बावजूद कई लोगों को स्वीकार्य हों।

मुझे अपनी पसन्द को भी साफ कर देना चाहिए। मैं खुद को एक 'व्यवसायी' (प्रैक्टिशनर) मानता हूं। शिक्षा सम्बन्धी मेरे विचार पढ़ाने और स्कूली प्रबंधन के मेरे अनुभवों और उसके साथ चले चिन्तन का नतीजा हैं। एक व्यवसायी के रूप में अपनी छवि एक ऐसे व्यक्ति की मानता हूं जो कारगर विचारों को आजमाने को तैयार हो, फिर चाहे ये किसी भी विचारधारा के क्यों न हों। शिक्षकों (और शिक्षार्थियों) के रूप में मैं यह भी जरूरी मानता हूं कि हम असफल रही पुरानी धारणाओं को फेंकने को तैयार हों और महज पूर्वाग्रहों के चलते विचारों को खारिज न करें।

इस आलेख के शेष भाग में मैं शैक्षिक प्रावधान व साझेदारी के विभिन्न स्वरूपों के पीछे जो मान्यताएं हैं उन्हें जांचने और स्पष्ट करने की कोशिश करूंगा। मैं अपनी पसंद भी साफ-साफ अभिव्यक्त करना चाहूंगा और उन पसंदों के कारणों को भी। उम्मीद है कि इससे आपको, पाठकों को, यह पहचानने में मदद मिलेगी कि इस बहस में आप खुद कहां खड़े हैं। चूंकि इस बहस की प्रकृति कुछ ऐसी है और इससे जुड़े मुद्दे इतने पेचीदा हैं कि मैं समूची बहस के एक छोटे से हिस्से को ही सम्बोधित करूंगा; यह निबन्ध स्कूली शिक्षा के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करेगा और उस प्रकार की सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पीपीपी) को समझने की कोशिश करेगा जो इस क्षेत्र में सार्थक हो, अगर ऐसा सम्भव हो तो। जैसा मैं उल्लेख कर चुका हूँ भारतीय संदर्भ में पीपीपी का विचार पूर्णतः नया नहीं है। साथ ही यह बहस भी निजीकरण तथा सार्वजनिक प्रावधान में सब कुछ या कुछ नहीं का तर्क भी नहीं है। ध्रुवीकृत अभिगम इतिहास को नकारने वाले (ए-हिस्टॉरिक) होते हैं। अगर हम यह पहचान लें, तो बहस विगत सफलताओं व असफलताओं की बेहतर व गहरी समझ की ओर मुड़ेगी और तब हम भविष्य के स्वरूप पर चर्चा कर सकेंगे।

## जिस स्थिति में हम हैं

प्राथमिक स्तर पर बड़े नामांकनों के हालिया रुझानों के बावजूद सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था का समग्र प्रदर्शन घटी हुई अपेक्षाओं के अनुरूप भी नहीं हो पाया है। कई शोधकर्ताओं ने पाया है कि हमारे स्कूलों का प्रदर्शन उन देशों के स्कूलों से कहीं नीचे है, जिनसे भारत की अक्सर तुलना की जाती है - मुख्यतः बीआरआईसी (ब्राजील, रशिया, भारत, चीन) तथा अन्य विकासशील देशों के स्कूलों से भी। प्राथमिक स्तर पर अधिक नामांकन हाई स्कूल स्तर पर अपनी गति बनाए नहीं रख पाता। गुणवत्ता व शिक्षार्थी उपलब्धियों के मानदण्डों की दृष्टि से स्थिति और भी भयावह है। सर्वेक्षणों से पता चला है कि शिक्षक अनुपस्थिति का स्तर ऊंचा है, शैक्षणिक गतिविधियां कम हैं, और कोई अचरज नहीं, कि सीखने के अधिगम कमजोर हैं। गुणवत्तापूर्ण मानवीय संसाधन के निर्माण में असफलता का भारत को भारी सामाजिक तथा आर्थिक नुकसान हो रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में असफलता की भारी कीमत को पहचानने व स्वीकारने के बावजूद राजनीतिक बहस में शिक्षा मुद्दा महत्वपूर्ण नहीं बन पाया है।

शिक्षा के निजी प्रावधान में वृद्धि देखी जा सकती है, खासकर शहरी इलाकों में। हाल के आंकड़े यह सुझाते लगते हैं कि शहरी इलाकों में जो ताजे नामांकन हुए हैं उनका काफी बड़ा हिस्सा (केरल जैसे राज्यों तक में) निजी स्कूलों में है। अगर हम गैर-मान्यता प्राप्त स्कूलों को भी जोड़ें तो यह रुझान और भी बढ़ा हुआ नजर आएगा।

सरकारी आंकड़े निजी शिक्षण के आकार और उसके फैलाव को कमतर आंकते हैं।

नामांकन के आंकड़ों के साथ, साक्ष्य यह भी सुझाते हैं कि अगर निजी शैक्षणिक प्रावधान का छात्रों की उपलब्धि व विषयगत अधिगम की दृष्टि से भी मूल्यांकन करें तो निजी स्कूलों का प्रदर्शन अधिकांश सरकारी स्कूलों से बेहतर है। साथ ही निजी क्षेत्र में शिक्षकों के वेतन बाजार से निर्धारित होते हैं (और सरकारी व्यवस्था की तुलना में सामान्यतः कहीं कम भी होते हैं), इस अर्थ में निजी स्कूल कहीं अधिक 'लागत-कुशल' (कॉस्ट इफेक्टिव) हैं। यह दावा कि निजी शिक्षण तक केवल उन लोगों की पहुंच है जो तुलनात्मक रूप से सम्पन्न हैं, उपलब्ध प्रमाणों के समक्ष खड़ा नहीं रह पाता।

सरकारी स्कूलों की कई असफलताएं जैसे प्रावधान, गुणवत्ता तथा प्रदर्शन को सीधे-सीधे व्यवस्थागत प्रशासकीय व संगठनात्मक असफलता से जोड़ा जा सकता है। अपने स्वरूप के कारण भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में (केवल शिक्षा में ही नहीं) जवाबदेही और व्यावसायिक दक्षता (प्रोफेशनलिज्म) कायम नहीं रख पाई है। और जब सार्वजनिक प्रावधान, व्यापक एकाधिकार सत्ता से जुड़ता है तो नतीजे लगभग हमेशा ही घातक होते हैं। यह तथ्य कि अगर विकल्प उपलब्ध हों तो गरीब भी सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था को त्यागते हैं, हमें सोचने पर मजबूर करता है।

त्रुटिपूर्ण आंकड़ों और प्रतिवेदन में पूर्वाग्रहों के चलते आई कमियों की गुंजाइश छोड़ने के बावजूद इस निष्कर्ष से बचा नहीं जा सकता कि सरकारी स्कूल व्यवस्था का प्रदर्शन बेहद घटिया है। जिस व्यापक स्तर पर सार्वजनिक संसाधन अब तक शिक्षा के लिए आवंटित थे और भविष्य के लिए किए जा रहे हैं, उनके चलते सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की निरंतर समीक्षा और प्रदर्शन में सुधार बेहद जरूरी है। परन्तु विवाद तब उठता है जब बदलाव के लिए ऐसे नुस्खे सुझाए जाते हैं जो विविध मतों के ध्रुवों से आते हैं - जो एक ओर सरकारी व्यवस्था को क्रमशः घटाते जाने और साथ ही निजी स्कूलों के लिए सार्वजनिक अनुदान उपलब्ध करवाने की पैरवी करते हैं, तो दूसरी ओर अन्य लोग सरकारी व्यवस्था की व्यापक असफलता को स्वीकार कर उसे गम्भीरता से ले प्रतिक्रिया करने से ही इन्कार करते हैं।

## निजी = बाजार = लालच ?

यह दावा किया गया है कि लाभ से प्रेरित शिक्षा प्रावधान से उन गरीबों का शोषण होगा जो इतने अज्ञानी और उदासीन हैं कि सोच-विचार करने के बाद चुनाव करने में अक्षम हैं। दूसरे, डर यह है कि निजी क्षेत्र उन गरीबतम लोगों को शिक्षा मुहैया नहीं

करवाएगा जो इन सेवाओं के लिए पैसे नहीं चुका सकते या जो नकदी वित्त व्यवस्था के ही बाहर हैं। यद्यपि इन सरोकारों को खारिज नहीं किया जा सकता और उनके गम्भीर मूल्यांकन की जरूरत भी है, इस बात के प्रमाण तो उपलब्ध हैं कि गरीबों में से कई शिक्षा का मूल्य पहचानते हैं और निजी स्कूलों को तब भी शुल्क देते हैं जब, कम से कम सिद्धान्ततः, निःशुल्क, सरकार अनुदान वाली शिक्षा उपलब्ध है। निजी स्कूलों के तथाकथित 'औसत स्तर' व उनकी गरीबों का शोषण करने की वृत्ति को भी पुष्टि की जरूरत है। मेरे विचार से जो साक्ष्य इकट्ठा हो रहे हैं वे विपरीत दिशा का संकेत करने लगे हैं - गुणवत्ता और पहुंच दोनों ही अर्थों में सरकारी स्कूली व्यवस्था ही गरीबों को धोखा दे रही है।

यह सच है कि खर्चीले, ऊंचे शुल्क वाले स्कूल, जो कस्बों और शहरों में नव-धनाढ्यों के लिए कुकुरमुत्तों से उगे आ रहे हैं, अक्सर पूंजीवादी उद्यमिता और किराया-वसूली की मंशा से संचालित हैं। इनमें से कई में कोई स्पष्ट शैक्षणिक दिशादृष्टि का अभाव होता है और उनकी गुणवत्ता भी संदेहास्पद होती है। फिर मैं इस बात से आश्वस्त नहीं हूँ कि वे 'असफल बाजारों' के अवश्यभावी घटना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके बदले तर्क यह भी किया जा सकता है कि ये स्कूल दरअसल असफल नियमन का संकेत देते हैं।

कई दशकों में ऐसे प्रमाण इकट्ठा हुए हैं कि कुछ बाजारों में जहां व्यापकता और स्थान की सुविधा हो, और जहां अल्प अवधि में गुणवत्ता को मापना समस्यात्मक हो, वहां सरकार को हस्तक्षेप करने और चतुराई से नियमन करने की जरूरत पड़ती है। ऐसी स्थिति में भारतीय राज्य की जो सामान्य प्रतिक्रिया है वह नियमन को इस कदर बढ़ाने की रही है कि आपूर्ति ही बन्द हो जाए। समय के साथ, राजनीतिक प्रभाव वाले निहित स्वार्थ लाईसेन्सों व बाजार की ताकत को हथियाने में सफल होते हैं जिसका गुणवत्ता और नैतिक माहौल पर घातक असर पड़ता है। एकत्रित साक्ष्यों के बावजूद हमारी शिक्षा की नियमन व्यवस्था अपनी पिछली गलतियों से बदलने और सीखने में बेहद सुस्त रही है। मेरा सुझाव है कि निजी क्षेत्र द्वारा लाभ लूट के डर की माकूल अनुक्रिया आपूर्ति अवरुद्ध करने वाली नहीं होनी चाहिए। बल्कि इसका उलट होना चाहिए। चुनाव, स्पर्धा और विविधता को अगर सही तरह समझा और नियामित किया जा सके तो एक सद्चक्र प्रारंभ हो सकता है जो समाज के लिए मानव पूंजी का ठोस आधार निर्मित कर सकता है। अतः बाजार को खोलने के साथ निजी और सार्वजनिक स्कूलों के लिए सरकार द्वारा प्रायोजित व सुविचारित गुणवत्तापूर्ण 'बैंचमार्किंग' की प्रक्रिया पर विचार करना सार्थक होगा। इसके लिए सरकार में नागरिकों की इस क्षमता पर अधिक भरोसे की जरूरत भी होगी कि

अगर बेहतर सूचना व अधिक विकल्प सामने हों तो नागरिक विवेकपूर्ण चयन कर सकते हैं।

यहां मैं यह रेखांकित करना चाहूंगा कि यह विचार वह खुला बाजार इवेन्तेलिज्म (सु-समाचारवाद) नहीं है। शिक्षा का क्षेत्र अन्य सेवाओं की तरह नहीं है और पूरी तरह बाजार के भरोसे छोड़े जाने के लिए बेहद महत्वपूर्ण भी है। फिर भी बाजार के प्रति हमारे अविश्वास और नियमन की विगत असफलताओं से सीखने की हमारी अक्षमता ने एक ऐसी व्यवस्था को गढ़ा है, जो जितनी हो सकती थी उससे कहीं कम असरदार है। 'नहलाने के पानी के साथ शिशु को फेंकने' की इस वृत्ति को सुधारा जा सकता है और सुधारा भी जाना चाहिए।

### फिर पीपीपी का क्या हो ?

शिक्षा के क्षेत्र से सरकार को पूरी तरह हटने का तर्क पोचे सिद्धान्त और कमजोर साक्ष्यों पर आधारित है। सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था के जड़ गैर-लचीलेपन और उसकी अकुशलता को हटाने के लिए आमूलचूल बदलाव की आवश्यकता है। सेवा क्षेत्र की विशाल अफसरशाही के अनुभव जैसे दूरसंचार व यातायात के, संकेत यह देते हैं कि जब उपभोक्ता के चयन और स्पर्धा का ताप महसूस होता है तो सरकारी क्षेत्र भी नतीजे देता है। पर इस बदलाव के लिए स्कूल के स्तर पर नवाचार युक्त संगठन और अधिक स्वायत्तता व लोकतंत्र की आवश्यकता होगी। सीखने की प्रक्रिया नितांत व्यक्तिगत होती है और छात्र, शिक्षक तथा विषय के बीच अंतः क्रिया पर कहीं अधिक निर्भर करती है, बनस्वित एक हद के बाद तकनीक व ढांचों पर।

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, सरकारी अनुदान प्राप्त निजी स्कूलों के रूप में पीपीपी भारतीय शैक्षिक परिदृश्य का एक अर्से से हिस्सा रहा है। इसे हम आपूर्ति-पक्ष पीपीपी का नाम दे सकते हैं, क्योंकि इसका प्रभाव होता है प्रत्यक्ष सरकारी अनुदान द्वारा स्कूलों की संख्या बढ़ाना। इस तथ्य पर गौर किया गया है कि इस व्यवस्था में गम्भीर खामियां हैं। अधिकांश निजी अनुदानित स्कूल क्रमशः अपने सरकारी मामा-चाचाजाद भाई-बहिनो की शक्ति अख्तियार करने लगे हैं और अक्सर उनको सीमित स्वायत्तता दी जाती है। सच तो यह है कि कुछ अपवादों को छोड़ वे भी सरकारी स्कूलों की तमाम खामियों से ग्रस्त लगते हैं।

पीपीपी का एक और मॉडल भी है, जिसे मैं मांग-पक्ष पीपीपी कहूंगा, जो एक आकर्षक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अभिगम का एक स्वरूप इस प्रकार चलेगा कि बच्चों के माता-पिता को सरकारी अनुदान के वाउचर उपलब्ध करवा, स्वयं स्कूल चुनने की क्षमता दी जाए। कई देशों में वाउचरों के

साथ प्रयोग हुए हैं, जिनके नतीजे मिश्रित रहे हैं। स्कूल वाउचर व्यवस्था पक्षधरों को यूएसए तक में, (जो सम्भवतः सर्वाधिक बाजार दोस्ताना समाज है) जनता के गम्भीर विरोध का सामना करना पड़ रहा है। मैं मानता हूँ कि सु-व्यवस्थित रूप से पेचीदा वाउचर प्रणाली लागू करना, भारत की अधिकांश राज्य सरकारों की क्षमता के परे है। अगर वाउचर व्यवस्था को यहां सफल होना है तो इसे सरकारी शिक्षा व्यवस्था में गम्भीर सुधार के बाद ही (पहले नहीं) लागू किया जाना होगा। अगर इसका क्रियान्वयन कमजोर रहा तो ऐसी वाउचर प्रणाली भ्रष्टाचार और निजी लाभ की वृत्ति को पनपाने के अवसर बढ़ाएगी।

देश के कई भागों में साझेदारी की तमाम अन्य सम्भावनाओं को तलाशा गया है। गैर-सरकारी संस्थाएं और नागरिक समूहों ने सार्वजनिक स्कूलों के ढांचों व गुणवत्ता को सुधारने में ठोस योगदान दिया है। इन पहलों की सुदृढ़ बनाने उन्हें संस्थागत रूप देने की जरूरत है। सरकार द्वारा अनुदानित निजी स्वामित्व वाले स्कूलों के बनिस्बत इस तरह की साझेदारी के सफल होने तथा गुणवत्ता पर अधिक प्रभाव डालने की सम्भावना कहीं ज्यादा है।

### निष्कर्ष :

मेरे अब तक के तर्क शिक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों के सह-अस्तित्व तथा एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से काम करने के पक्ष में हैं। साझेदारी के लिए “अलग-अलग पर समान” का नुस्खा मुझे बेहतर लगता है। सार्वजनिक क्षेत्र को सुधारने की, उसे मजबूत बनाने की जरूरत है, उसे क्रमशः बन्द करने की नहीं। निजी क्षेत्र को भी संवेदनशील व्यवहार की आवश्यकता है। बाजार तथा निजी उद्यम के प्रति हमारी परम्परागत शंका के स्थान पर विश्वास को लाने की जरूरत है। और जनता की सर्तकता की भी। निजी समूहों द्वारा स्कूल चलाने की स्वतंत्रता में नाटकीय सुधार की जरूरत है। नियमन में, जो परम्परागत रूप से नियंत्रण के दर्शन पर आधारित रहा है, दुष्कर के बदले सुकर बनाने का विचार जोड़ना होगा। निजी लालच के विरुद्ध दण्ड एक ऐसा अस्त्र है, जिसका नियामन ढांचा हमेशा उपयोग कर सकता है।

सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था में सुधार के लिए उपभोक्ता (जो अधिक विकल्पों से लैस हो) के दबाव तथा मजबूत ‘राजनीतिक धक्के’ की जरूरत है। राजनेताओं और वरिष्ठ अफसरों में गम्भीर सुधार लाने और निजी शैक्षणिक अवसरों को बढ़ाने की, प्रेरणा है या नहीं यह देखना है। यह भी तय है कि ऐसे प्रयासों को विभिन्न प्रकार के निहित स्वार्थों के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। निजी अवसरों को खोल देने से सार्वजनिक क्षेत्र पर सुधार लाने का

स्वस्थ प्रभाव ठीक यहीं पड़ेगा।

मैंने अब तक स्कूली शिक्षा में लाभ के लिए प्रारंभ की गई पहलों का कोई उल्लेख नहीं किया है। अगर सुधार के साथ निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान हो और जीवन्त स्वैच्छिक निजी प्रयास भी हों तो, लाभ कमाने का मुद्दा बेमानी सा बन उठता है। यह मौका तो उपजता ही कमियों के साथ बनी और गलत रूप से लागू की जाने वाली नियामन व्यवस्था के कारण है जो लाभखोरी को प्रोत्साहित करता है। व्यवस्थागत गैर-लचीलेपन के तुलनात्मक रूप से अनुपस्थित होने पर लाभ के लिए चलने वाले स्कूल भी बाग में उगी एक भिन्न प्रजाति भर रह जाएगी।

मैं रेखांकित करता हूँ कि स्कूली व्यवस्था में अधिक विकल्प, स्पर्धा और विविधता जहां सार्वजनिक व निजी दोनों ही तरह के खिलाड़ी सह-अस्तित्व करें, यह आपूर्ति व मांग पक्ष, दोनों ही तरह के पीपीपी मॉडल से बेहतर स्थिति है। यह याद रखना होगा कि सार्वजनिक स्कूली व्यवस्था को निजी प्रावधान करने वालों की तुलना में हमेशा ही “कीमत की सुविधा” मिलेगी। अगर इस तरह के फायदे के बावजूद नागरिक निजी व्यवस्था को चुनते हैं तो इसके कारण कहीं और नहीं सार्वजनिक स्कूलों की कार्य पद्धति में ही तलाशने होंगे। ♦

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

### कविता

## बड़ा हो रहा है

बड़ा हो रहा है लड़का

उन औजारों के बिना

जिनसे वह बनाता और तोड़ता हुआ बड़ा होता

वह सिर्फ बड़ा हो रहा है

रघुवीर सहाय

(‘हंसो हंसो जल्दी हंसो’ संग्रह से साभार।)